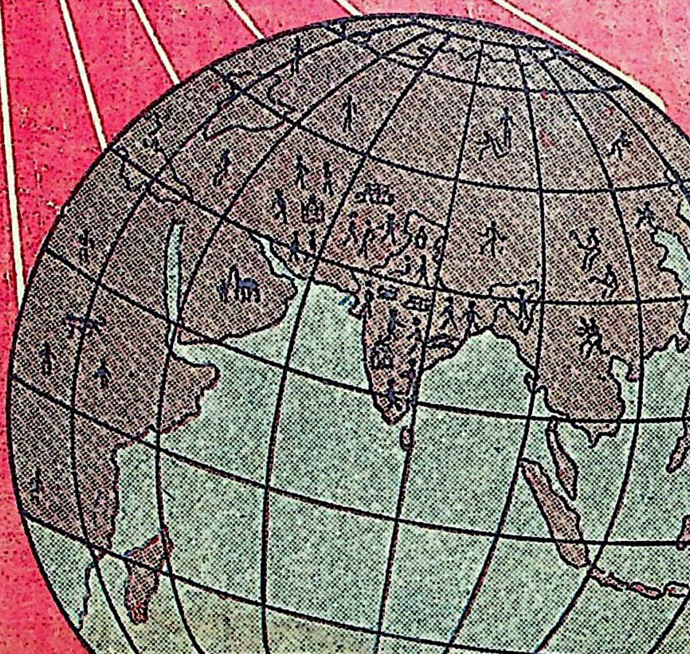
वैदिक रश्मियाँ



वेद पढ़ें सुविचार बढ़ें बल पाए चढ़ें नित ऊपर को।
अविरुद्ध रहें ऋजुपन्थ गहें, परिवार कहें वसुधा भर को

ओ३म्

'असतो मा सद्गमय–तमसो मा ज्योतिर्गमय–मृत्योर्माऽमृतंगमय'

"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"

"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन का इक्कीसवाँ पुष्प"

वैदिक रश्मियाँ



[भाग १]

लेखक—रामप्रसाद वेदालंकार
(संगड़ विद्या सभा ट्रस्ट, जयपुर द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत)
रीडर एवं अध्यक्ष, वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पता—
रामप्रसाद वेदालंकार
कर्म कुटीर, आर्य नगर, ज्वालापुर
जि॰ सहारनपुर, (उ.प्र.)—पिन–249407

प्रकाशित—

आर्य समाज डाक पत्थर के आरम्भिक सहयोग से

प्र॰ संस्करण) दयानन्दाब्द–१५७ (सम्वत् २०३=
४००० प्रतियाँ) (मई १९८१

आप दान देते हैं तभी उपर्युक्त प्रकाशन आपको ज्ञान दे पाता है।
मूल्य पढ़ना पढ़ाना–सुनना सुनाना

विषय-सूची

मूल्य—"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" से सरल सुबोध रूप मे प्रकाशित होने वाला वैदिक साहित्य दानी महानुभावों के दान से प्रकाशित होता है और सुपात्रों को प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना ही इस का मूल्य है।

जो महानुभाव इस सरल सुबोध वैदिक साहित्य को उपयोगी समझ कर मंगवाना चाहें वा इसमें अपना आर्थिक सहयोग प्रदान करना चाहें वे कृपया प्रकाशक के पते पर पत्र व्यवहार करें। न्यून से न्यून १० रु० तक की राशि किसी एक पुस्तक की दान सूची में प्रकाशित की जायेगी, शेष फुटकर दान में।



प्रकाशक-परिचय

सन् १९४९ में भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री स्वर्गीय पं० जवाहर लाल नेहरु जी ने 'डाकपत्थर' की स्कीम की नींव रखी। उस स्कीम के आधार पर १९५० में कार्य आरम्भ हुआ। अरबों रुपयों की यहां यमुना की स्कीम से जहां भारत को जल-विद्युत आदि से लाभ पहुँच रहा है वहां इतनी बड़ी स्कीम के साथ-साथ 'डाकपत्थर' नामक स्थान की आबादी भी बढ़ने लगी। आबादी के बढ़ने के साथ-साथ अन्य भी नागरिक सुख-सुविधाएं बढ़ने लगीं। यह स्थान बड़ा ही मनोहर है, रमणीक है। अतः हर आने वाले को यह बहुत भाता है। जहां यह स्थान लौकिक लोगों को भाता है वहां अध्यात्म-प्रेमी व्यक्तियों को भी यहाँ का प्राकृतिक दृश्य अनुकूल लगता है। क्योंकि जहां यहाँ यमुना बहती है वहां यमुना के पार हिमाचल प्रदेश की हरी भरी पहाड़ियाँ हैं तथा यमुना से इधर उत्तर प्रदेश है। इस प्रकार यमुना के द्वारा दो प्रदेशों का मिलन भी दर्शनीय है।

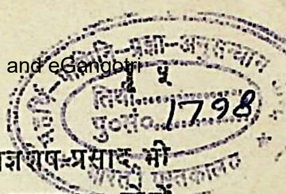
इधर जब धीरे-धीरे आबादी बढ़ने लगी तो उसका लाभ उठाते हुए ईसाईयों ने अपना प्रचार आरम्भ कर दिया। वे धीरे धीरे शिक्षा, प्रचार, सेवा एवं औषधोपचार (चिकित्सा आदि के माध्यम से सामान्य जनता में अपने पांव पसारने लगे। इस पर यह स्वाभाविक ही है कि जहां दो चार सच्चे आर्य भी रहते हों वे सजग हो जावें। सो ऐसा डाकपत्थर में भी हुआ। उसी के परिणाम स्वरूप 'डाकपत्थर' में भी आर्यसमाज की गतिविधियां प्रारम्भ हो गयीं। श्रद्धा एवं रुचि और अधिक बढ़ने पर १९७० में यहां आर्य समाज की स्थापना हो गई। जहां आर्य समाज

मन्दिर की नींव रखी गयी वह स्थान प्राकृतिक दृष्टि से बड़ा ही दर्शनीय है। क्योंकि उससे जहां एक ओर यह लघु सा नगर आरम्भ होता है वहां दूसरी ओर उसके सामने यमुना एवं हिमाचल प्रदेश की हरी भरी पहाड़ियों का दृश्य भी अपने ढग का निराला ही है। और फिर हिमाचल की इन पहाड़ियों से सुरग के माध्यम से आने वाला जल-प्रपात भी देखने के योग्य है। यह सब कुछ श्रवण की अपेक्षा देखने में अधिक प्रिय लगता है।

इस प्रकार 'डाकपत्थर' एक दर्शनीय स्थान का रूप धारण कर गया है। प्रायः लोग इस स्थान पर भ्रमण करने के लिये आते हैं और कई दृष्टियों से इससे प्रभावित होकर जाते हैं।

ऐसे स्थान पर आर्य समाज भी अपनी उत्तमोत्तम गतिविधियों से सब के हृदयों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। इसलिए समीपस्थ स्थानों, जैसे विकास नगर, देहरादून आदि के वैदिक धर्म प्रेमी महानुभावो से इस को स्नेह, सहानुभूति और सहयोग भी मिलता रहता है। इसके परिणाम स्वरूप इस आर्य समाज का निर्माण भी होता जा रहा है। १९७७ में माननीय प्रधान आर्यसमाज डाकपत्थर श्री वेद प्रकाश जी के पूज्य पिता श्री जीवन दास जी गुप्त ने यहाँ पाँच सहस्र रुपये दान प्रदान कर बड़ी श्रद्धा से यज्ञशाला का निर्माण कराया। उस समय इस आर्य समाज के सभी कार्यकर्ताओं में परस्पर कितनी श्रद्धा एवं स्नेह तथा उत्साह था यह देखने योग्य बात थी। माननीय महात्मा दयानन्द जी तपोवन के करकमलों द्वारा उस यज्ञशाला का उद्घाटन कराया गया।

प्रभु की अपार कृपा से और महापुरुषों के आर्शीवाद तथा वहां के कार्यकर्ताओं की श्रद्धा से यहां प्रतिदिन प्रातः सायं



यज्ञादि होता है और आगन्तुक महानुभावों में यज्ञशेष-प्रसाद भी दोनों समय वितरण करने की व्यवस्था है। सम्भवतः दोनों समय प्रतिदिन आर्य समाज में यज्ञ के उपरान्त प्रसाद आदि की व्यवस्था क्वचित् ही होगी। इस दृष्टि से यहां के कार्यकर्ता बधाई एवं अनुकरण के पात्र हैं।

इस के अतिरिक्त यहां अतिथिगृह भी बनाया जा रहा है। पांच कमरों की नीव भरी जा चुकी है। ३ कमरे तो लगभग तैय्यार होने को हैं।

इस आर्य समाज का ८ से १० मई तक वार्षिकोत्सव है। इस उत्सव की पूर्णाहुति के शुभ अवसर पर जहां यह आर्य समाज यज्ञशेष अर्थात् प्रसाद बांटने की व्यवस्था कर रहा है वहां उसके साथ - साथ साहित्य के रूप में गत वर्ष की भांति इस वर्ष भी मई १९८१ में "वैदिक रश्मियां भाग-१" यह लघु पुस्तक भी स्थायी प्रसाद के रूप में वितरित करना चाहता है। उसी का परिणाम है जो आज आपके कर कमलों में यह लघु पुस्तक है। यदि स्वाध्याय प्रेमी महानुभावों को इस से कुछ लाभ पहुंचा तो लेखक एवं प्रकाशक अपने इस उद्योग को सार्थक समझेंगे। इस के प्रकाशन में "आर्यसमाज डाकपत्थर" ने ४०० रु० प्रथम दान के रूप में प्रदान किये हैं सो इसके लिए वह धन्यवाद का पात्र है।

वर्तमान में इस आर्य समाज के अधिकारी हैं—

प्रधान—श्री वेदप्रकाश जी गुप्त
मन्त्री—श्री रमेश चन्द्र शर्मा
कोषाध्यक्ष—श्री कृष्ण कुमार विष्णु

भूमिका

कुछ दिन हुए आर्य समाज डाकपत्थर के प्रधान श्री वेद-प्रकाश जी गुप्त का पत्र मिला जिसमें जहां उन्होंने अपने ८-१० मई मास में होने वाले वार्षिकोत्सव के लिये समय का आग्रह किया वहां पिछले वर्ष की भान्ति मई १९८१ में भी इस सामान्य प्रसाद के साथ - साथ स्थायी प्रसाद के वितरण करने की भी हार्दिक इच्छा अभिव्यक्त की, तथा उस विषय में विचार करने के लिये समय मांगा। मेरे पत्र के पहुंचने के पूर्व ही सम्भवतः उन्होंने अपनी आर्यसमाज के भू० पू० प्रधान श्री ललता प्रसाद जी के माध्यम से एक पत्र भेजा। उस पत्रानुसार १३अप्रैलको प्रातः ही उन के साथ विचार विमर्श कर इस बार १० मई १९८१ को उत्सव की पूर्णाहुति पर "वैदिक रश्मियां भाग-१" स्थायी प्रसाद के रूप में प्रकाशित कर के वितरित करने का निश्चय किया गया। मध्याह्न में श्री वेद प्रकाश जी वर्तमान प्रधान आर्य समाज डाकपत्थर भी आ गए। उन्हें मैंने "वैदिक रश्मियां भाग-१" की "प्रथम रश्मि" की अध्यात्म व्याख्या भी सुना दी। वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने ४०० रु०) इस के प्रकाशन में प्रथम दान रूप सहयोग प्रदान किया। उन्हीं की हार्दिक धार्मिक भावना का परिणाम समझिये जो १० मई १९८१ के आर्यसमाज डाक पत्थर के वार्षिकोत्सव की पूर्णाहुति के शुभ अवसर पर इस प्रयास के साथ - साथ स्थायी प्रसाद के रूप में यह "वैदिक-रश्मियां, भाग-१" लघु पुस्तक आप के हाथों में है। यदि स्वाध्याय प्रेमी महानुभावों को इस के स्वाध्याय से जीवन में आध्यात्मिक दृष्टि से कुछ ऊपर उठने और आगे बढ़ने की

प्रेरणा मिली तो लेखक एवं प्रकाशक अपने धन एवं पुरुषार्थ को सार्थक समझेंगे ।

—विनीत रामप्रसाद वेदालङ्कार

समर्पण

जिस परम पिता परमात्मा की अपार अनुकम्पा एवं अपने पूजनीय गुरुजनों के उदार हृदय से प्रदान किये हुए ज्ञान और आशीर्वाद के आधार पर "श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" का यह इक्कीसवां पुष्प "वैदिक रश्मियाँ, भाग–१" मैं आप के कर कमलों तक पहुँचा सका, उन्हीं के पावन चरणों में मेरा यह अल्प प्रयास समर्पित है ।

विनीत –
राम प्रसाद वेदालङ्कार

प्रथम रश्मि

अग्निमीडे ॥ ऋग्वेद १.१.१. ॥

अर्थ—(अग्निम् ईडे) मैं अग्नि स्वरूप - प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की स्तुति करता हूँ।

व्याख्या—(इडे) मैं स्तुतता हूँ. मैं भजता हूँ, मैं पूजता हूँ, मैं उपासता हूँ, मैं आराधता हूँ। प्रश्न होता है, किस को ? उत्तर है—(अग्निम्)—अग्नि को–प्रकाशस्वरूप प्रभु को, ज्ञानस्वरूप प्रभु को, तेजःस्वरूप परमेश्वर को ···।

मैं स्तुति करता हूँ मैं स्तवन करता हूँ, मैं भजन करता हूँ, मैं पूजा करता हूँ, मैं उपासना करता हूँ, मैं साधना करता हूँ, मैं आराधना करता हूँ। और फिर यह सब कुछ मैं बड़े दिल से करता हूँ, हृदय की टोस से करता हूँ, आन्तरिक चाहना से करता हूँ।

यह सब मैं क्यों करता हूँ ?–इसलिये करता हूँकि वह प्रभु मुझे बहुत प्यारा लगता है, वह मुझे प्यारा ही नहीं वरन् सब जग से न्यारा भी लगता है, वह मुझे अलौकिक लगता है, अनोखा लगता है, दिव्य लगता है, अनुपम लगता है······।

वह मुझे प्यारा क्यों लगता है, सब जग से न्यारा क्यों लगता है, अनुपम क्यों लगता है, दिव्य क्यों लगता है ?—इसलिये कि वह अग्निस्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है, ज्योतिस्वरूप है, तेजःस्वरूप है, ओजःस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है। वह ऐसा अग्निस्वरूप है कि यह अग्नि, विद्युत, चन्द्र, सूर्य आदि तो उसके सन्मुख कुछ भी तो नहीं हैं। वह ऐसा प्रकाशस्वरूप है कि इस अग्नि, विद्युत्, चन्द्र, सूर्य का प्रकाश तो उस के सन्मुख कुछ भी

तो नहीं है। वह ऐसा तेजः है कि इस अग्नि, विद्युत सूर्य आदि का तेज तो उस के सन्मुख कुछ भी नो नहीं है। वह ऐसा ओजो-रूप है कि इस अग्नि विद्युत् सूर्य आदि का ओज तो उस के सन्मुख कुछ भी नो नहीं है। वह ऐसे ज्ञान - विज्ञान की खान है कि हम सब का ज्ञान - विज्ञान तो उसके सन्मुख कुछ भी तो नहीं है। उस में जो प्रकाश है, तेजः है, ओजः है वह तो ऐसा है कि इस सारे संसार के इन मानवों की वा अन्य सिंह आदि की भी तो बात ही क्या कहें ये अग्नि विद्युत् सूर्य आदि के तेज आदि भी तो उस के सम्मुख फीके पड़ जाते हैं। सच पूछो तो इस संसार के भी इन अग्नि विद्युत् चन्द्र सूर्य आदि पदार्थों में जो ज्योति है, जो प्रकाश है, जो तेज है, जो ओज है, वह सब भी मेरे उस प्यारे और सब जग से न्यारे प्राणप्रिय प्रभु के कारण से ही तो है। अपने ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश से जो सारे संसार को चकित कर देते हैं, अपने तेज और बल से जो सारे संसार पर छा जाते हैं, अपने ओज और पराक्रम से जो जगत् को पराभूत कर देते हैं, अपनी कान्ति एवं क्रान्ति से जो संसार को अभिभूत कर देते हैं ऐसे महान् व्यक्तियों की पीठ पर भी तो हमें वहाँ दिव्य देव दिखाई देता है। इसीलिये ही तो उस अपने प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु को इतनी श्रद्धा और उत्साह से मैं भजता हूँ।

सच पूछो तो वह मुझे बहुत भाता है, वह मुझे बहुत सुहाता है, वह मुझे बहुत ही प्यारा लगता है। मेरे उस प्यारे प्रभु देव में एक सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह स्वयं किसी के रंग में नहीं रंगता, वह स्वयं किसी के ढंग में नहीं ढलता, वह स्वयं किसी के रूप में नहीं बदलता; हाँ जो उसके सम्पर्क में आ जाता है, जो उसके सान्निध्य में आ जाता है, जो उस के

प्रेमपाश में बन्ध जाता है, वह अवश्य उस के रंग में रंग जाता है, वह अवश्य उस के ढग में ढल जाना है, वह अवश्य उस के संग से संभल जाता है. वह अवश्य उस के रूप में बदल जाता है, ऐसे जैसे कि इस अग्नि के सम्पर्क में आकर प्रत्येक पदार्थ अग्नि-रूप हो जाता है, तेजोरूप हो जाता है, ओजोरूप हो जाता है। संसार में यदि कोई झूठा मिथ्याभाषी, दुर्भाषी, अपभाषी. व्यर्थभाषी वा दुर्दृष्टि, कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, अहङ्कारी इर्ष्यालु आदि ज्यों-ज्यों उसके सम्पर्क में आता है तो तब वह मेरा प्यारा अग्निदेव—ज्ञान प्रकाश रूप प्रभुदेव उसके रंग में रंग कर उस के ढग में ढल कर कामी, क्रोधी आदि नहीं बनता वरन् वह व्यक्ति ही उस प्रभु के सम्पर्क में आकर सत्यभाषी, सुभाषी, मधुरभाषी, यथार्थभाषी, मितभाषी, सुदृष्टि, निष्काम, शान्त, और तृप्त आदि होकर काम क्रोध लोभ मोह अहङ्कार ईर्ष्या द्वेष से धीरे - धीरे ऊपर उठ जाता है। सच कहा जाय तो वह मेरा प्रभु इतना निराला है कि उस के सम्पर्क में जो आ जाता है वह भी तब उसी के समान ज्योति से ज्योतिमय, हुआ - हुआ, उसी के समान प्रकाश से प्रकाशमय हुआ - हुआ, उसी के समान तेज से तेजोरूप हुआ - हुआ, उसी के समान शान्त, तृप्त सा हुआ-हुआ वह अन्य सब को भी अपने सम्पर्क से उस प्रभु प्रदत्त ज्ञान, प्रकाश, तेज और शान्ति वा तृप्ति आदि से ज्योतिर्मय, प्रकाशमय, ज्ञानमय, तेजोमय, ओजोमय शान्त और तृप्त करता हुआ तब बड़ा ही सरल सोम्य शान्त. तृप्त प्यारा और जग से कुछ न्यारा सा लगने लगता है। तब वह सब को भाने भी लगता है। तब अन्य सब उसके प्रति श्रद्धा पूर्वक नतमस्तक होने में बड़ा ही सुख सा अनुभव करने लगते हैं, बड़ी ही तृप्ति भी अनुभव करने लगते हैं।

मैं अपने परम प्रिय प्रकाशमय, ज्ञानस्वरूप अनुपम दिव्य देव की इसीलिये ही तो स्तुति प्रार्थना और उपासना करता हूँ कि मैं भी उस के दिव्य अनुपम संग से उस के रंग में रंग कर उस के ढंग में ढलकर किसी दिन वैसा ही बन जाऊं और अपने क्षेत्रानुसार सब को उसी के समान स्नेह दे सकूं, प्यार दे सकूं, प्रकाश दे सकूं, ज्ञान दे सकूं, तेज दे सकूं, ओज दे सकूं, सुख दे सकूं, शान्ति दे सकूं, आनन्द दे सकूं——।

द्वितीय रश्मि

१-अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ऋ० १. १.२॥

(अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्यः उत नूतनैः [ईड्यः] वह अग्निस्वरूप, ज्योतिस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप अग्रणी परम प्रभु पूर्व के ऋषि मुनि-सन्त महात्माओं का स्तुत्य रहा है और नूतन - नवीन—आगे आने वाले ऋषि - मुनि, सन्त-महात्माओं का स्तुत्य रहेगा।

जिस अग्निस्वरूप, ज्योतिस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, तेजःस्वरूप, ओजःस्वरूप प्रभु की मैं स्तुति करता हूँ, प्रशंसा करता हूँ, पूजा करता हूँ, उपासना करता हूँ, आराधना करता हूँ। प्रथम तो मैं यही समझता रहा कि—"केवल मैं ही उस की स्तुति करता हूँ" और यह समझकर ही मैं अपने को ही अन्य सबकी अपेक्षा कुछ विशेष मानने लगा, कुछ उत्तम मानने लगा और ऐसा मानने पर मुझे कुछ अभिमान भी होने लगा, कुछ अहंकार भी होने लगा, परन्तु बहुत ही शीघ्र मुझे यह ज्ञात होने लगा कि जिस की मैं स्तुति प्रार्थना और उपासना करता हूँ वह तो पूर्व के—बीते हुए युग—युगान्तरों के ऋषि - मुनि - सन्त महात्मा भक्त और उपासकों का भी पूज्य रहा है, स्तुत्य रहा है। अर्थात् वे सब भी जो - जान से बडी श्रद्धा - भक्ति से अपने - अपने समयों में उस महान् परमेश्वर की—उस जगत् के रचयिता जगदीश्वर की स्तुति करते रहे हैं, प्रशंसा करते रहे हैं, पूजा करते रहे हैं, आराधना करते रहे हैं, उपासना करते रहे हैं, ध्यान भजन और पूजा करते रहे हैं और इस के परिणाम स्वरूप ही वे उस प्रभु की अनुपम ज्योति से ज्योतिर्मय होते रहे हैं,

उस के अनुपम प्रकाश से प्रकाशमान होते रहे हैं, उस के दिव्य ज्ञान से सच्चे ज्ञानी बनते रहे हैं, उस के दिव्य तेज से तेजस्वी एवं दिव्य ओज: से ओजस्वी होते रहे हैं। इतना ही नहीं कि वे यह सब होकर आराम से बैठ गये हों वरन् वे अन्य सब को भी प्रभु के प्रकाश से प्रकाशमय, प्रभु के ज्ञान से ज्ञानमय, प्रभु के तेज: से तेजोमय, प्रभु के ओज: से ओजोमय करने का हार्दिक प्रयास करते रहे हैं, तथा जो कुछ भी उस प्रभु के संग से वे पाते रहे हैं वही सब कुछ दिल खोल कर वे बाँटते रहे हैं, भेद-भाव रहित होकर वे वितरित करते रहे हैं।

यह सब देख सुन वा जानकर मुझको बहुत प्रसन्नता हुई कि "वह मेरा प्राणो से प्यारा प्रभु मेरा ही नहीं वरन् बीते हुए युगों में सहस्रों का–सहस्रों का नहीं वरन् अनन्त प्राणियों का सदा स्तुत्य रहा है, पूज्य रहा है, उपास्य रहा है, आराध्य रहा है। इससे मुझे प्रसन्नता ही नहीं वरन् मेरा अभिमान भी बहुत कुछ झड़ गया, यह सोच कर कि मैं ही केवल ऐसा नहीं हूँ वरन् इस विषय में मुझ से भी बहुत बड़े - बड़े महान् पुरुष - साधक आराधक, उपासक, योगी, तपस्वी, ऋषि, महर्षि–पतञ्जलि व्यास गुरुविरजानन्द, महर्षि दयानन्द, श्रीराम, श्रीकृष्ण, रामतीर्थ आदि - आदि सब हो चुके है जिनके सम्मुख मेरी कुछ गिनती भी नहीं है। तब मैं अभिमान के झड़ जाने से पर्याप्त हल्का हो गया।

इतना ही नहीं मुझे और भी तब प्रसन्नता हुई जब मैंने यह जाना कि वह अग्निस्वरूप प्रभु तो ऐसा है कि वह केवल पूर्व के अर्थात् भूत काल के ऋषि - मुनि, सन्त - महात्माओं– उपासकों का ही पूज्य - उपास्य - आराध्य देव नहीं रहा है,

और न ही वर्तमान काल मात्र वालों का वह उपास्य देव है बल्कि वह तो आगे आने वाले अर्थात् नूतन - नवीन भविष्य के गर्भ में छुपे हुए ऋषि-मुनि-सन्त-महात्माओं का भी उपास्य देव रहेगा, उन के लिये भी ज्योति स्तम्भ, प्रकाश स्तम्भ बनकर उन्हें भी सतत् अपना ज्ञानप्रकाश प्रदान करता हुआ उन्हें भी सदा गर्त में गिरने से और ठोकर खाने से बचाता रहेगा तथा सन्मार्ग पर निरन्तर अग्रसर करता हुआ उन्हें ऊंचा उठाता और आगे बढ़ाता रहेगा। अत: वह उन सब का भी ऐसा ही आराध्य देव बना रहेगा।

यह सब जान - बूझ कर, सोच - विचार कर, मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई कि मैं इस दृष्टि से भूत और भविष्यत के स्तोताओं को-उपासकों को-आराधकों को-साधकों को जोड़ने की एक कड़ी हूं। इसलिये मुझे अब भूत के अनुभवी स्तोताओं-साधकों-उपासकों-आराधकों-भक्तों के अनुभवों को प्राप्त कर और भी लगन से-श्रद्धा भक्ति से उस अपने प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु की पूजा करनी है, आराधना करनी है, साधना करनी है, ताकि इस से जहां मुझे इस दिशा में और भी ऊंचा उठने और आगे बढ़ने की शक्ति मिले वहां मुझ से अन्यों को भी अर्थात् आगे आने वाले साधकों - उपासकों को भी दिशा मिले-राह मिले ताकि वे भी इस राह में कहीं गुमराह न हों, इस पथ पर कहीं भटकें नहीं, कहीं अटकें नहीं, कहीं लटकें नहीं वरन् सहज सीधे लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हुए वह सब कुछ पा जायें जिस की कि उन की आत्मा को भूख है, जिस की कि उन्हें वास्तव में तलाश है।

—·—

तृतीय रश्मि

अग्निना रयिमश्नवत् ॥ ऋ० १.१.३ ॥

अन्वयार्थं :— स्तोता (अग्निना) अग्निस्वरूप प्रभु से (रयिम्) ऐश्वर्य को (अश्नवत्) प्राप्त करे।

(१) स्तोता को चाहिये, भक्त को चाहिये, उपासक को चाहिये कि वह प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के ज्ञानप्रकाश में विद्यमान रहता हुआ ही ऐश्वर्य को प्राप्त करे। क्योंकि उस पावन परमेश्वर के नेतृत्व में यदि वह वर्तमान रहता हुआ [1]रयि-ऐश्वर्य—धन-वैभव अर्जित करता है तो वही ऐश्वर्य ही वास्तव में सच्चा ऐश्वर्य हो सकता है। वही ऐश्वर्य ही वास्तव में उस को दिन प्रति दिन पुष्ट - परिपुष्ट कर सकता है; वही धन - वैभव ही वास्तव में उसको अभ्युदय और निःश्रेयस का पात्र बना सकता है; वही सम्पत्ति ही वास्तव में उसको शरीर से सब प्रकार से सुखी, मन से शान्त और आत्मा से तृप्त कर सकती है।

उपर्युक्त मन्त्रांश से यह स्पष्ट होता है कि प्रभु के सच्चे भक्त को - सच्चे उपासक को - सच्चे आराधक को - सच्चे साधक को अर्थशुचि की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। मनु महाराज भी मनुस्मृति में लिखते हैं—

---

१ रयिरिति धननाम (निघं० २-१०)

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौच परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः ॥

मनु० ५. १०६ ॥

सब प्रकारकी शुद्धियों में-सब प्रकार की पवित्रताओं में अर्थ-शुचि-धन की शुद्धि (न्यायोपार्जित धन का होना) ही परम शुद्धि कही गयी है। इसलिये जो अर्थ में शुद्ध है--जो धन के विषय में शुद्ध है अर्थात् जिसने छल, कपट, झूठ वा अन्याय से धन नहीं प्राप्त किया, वही शुद्ध है--वही पवित्र है। जो केवल मिट्टी जल, साबुन आदि से शुद्ध है वह शुद्ध नहीं है। इस प्रकार मनु जी के अनुसार भी सब प्रकार की शुद्धियों मे - सब प्रकार की पवित्रताओं में अर्थ शुचि-धन की शुद्धि सर्वोपरि है।

वेद तो इससे और भी आगे बढ़ कर कहता है—वह यह कि "उपासक को चाहिये कि वह उस प्रकाशस्वरूप प्रभु के ज्ञान प्रकाश में विद्यमान रहता हुआ अर्थ का उपार्जन करे। इस प्रकार उस प्रभु की सम्प्रेरणा एवं उसकी वेदाज्ञा के अनुसार जब वह अर्थ का उपार्जन करेगा--जब वह धन-वैभव को प्राप्त करेगा तो तब निश्चय ही वह अर्थ--धन वैभव उसके यश को मान-सम्मान को भी बढ़ाता रहेगा उसके शरीर को सुखी और पुष्ट भी करता रहेगा, उसके मन को भी निरन्तर शान्त-सन्तुष्ट रखता रहेगा, और उसकी आत्मा को भी सदा तृप्त करता रहेगा। तात्पर्य यह है कि ऐसा पावन धन-वैभव उस मानव को जहां लोक में ऊपर उठायेगा, आगे बढ़ायेगा अर्थात् सुख-सौभाग्य का, यश एवं प्यार का भागी बनायेगा वहां वह उसे निःश्रेयस-आत्मानन्द का भी भाजन बनायेगा। अतः उपासक को चाहिये, साधक को चाहिये कि

वह अर्थ शुद्धि पर विशेष बल दे। वह सदा यह विचार करे कि जो अर्थ हमारे पास आ रहा है, क्या वह वेदों के अनुरूप है या नहीं ? उसके प्राप्त करने के लिये हमारी आत्मा हमें आज्ञा देती है या नहीं ? इत्यादि।" यदि मनुष्य सच्चे हृदय से ऐसा करता रहेगा और इसके अनुसार जो वेदाज्ञा एवं भीतर की सत्प्रेरणा के आधार पर ग्राह्य होगा उसे ही वह स्वीकार करता रहेगा तथा जिसके लिये वेद आज्ञा नहीं देता और न ही अपनी आत्मा स्वीकृति देती है ऐसे बड़े से बड़े वैभव को भी जब मनुष्य लात मारता रहेगा तो फिर निःसन्देह उस मानव की स्तुति में, प्रार्थना में, उपासना में, आराधना में, साधना में विशेष प्रगति होगी और फिर शनैः-शनै उससे उस मानव की सद्गति भी होगी।

अथवा

(२) (अग्निना रयिम् अश्नवत)— उपासक उस ज्ञानस्वरूप - प्रकाशस्वरूप प्रभु की स्तुति - प्रार्थना - उपासना के द्वारा उस प्यारे प्रभु से वह अनुपम ऐश्वर्य प्राप्त करे, वह दिव्य धन पा जाये जो कि उसे दिन - प्रति दिन निरन्तर निर्वैर निर्लोभ निर्मोह निरहङ्कार निश्छल निष्कपट स्वच्छ सरल और सौम्य बनाता जाये ताकि उसको जहां इस लोक में सर्वत्र स्नेह-सम्मान मिले, सर्वत्र यश और कीर्ति मिले वहां वह निरन्तर मनोबल आत्मबल से युक्त होकर प्रभुवर से वह सब कुछ भी पा सके जिस के पाने पर फिर कुछ पाने को शेष नहीं रह जाता, वह सब कुछ भी जान सके जिस के जानने के उपरान्त फिर कुछ जानने को शेष नहीं रहता।

चतुर्थ रश्मि

देवो देवेभिरागमत् ॥ ऋ० १.१.५ ॥

अन्वयार्थ :—वह (देव:) अग्निस्वरूप – प्रकाशस्वरूप ज्ञानस्वरूप प्रभु देव (देवेभि: आगमत्) दिव्य गुणों के द्वारा प्राप्त होता है वा हमारे भीतर अपने दिव्य गुणों के साथ अभिव्यक्त होता है।

व्याख्या :— वह अग्निरूप, वह ज्ञानस्वरूप, वह प्रकाश स्वरूप दिव्य देव आता है, हमें प्राप्त होता है, हमारे अनुभव में आता है, हमारे साक्षात्कार का विषय बनता है, हमारी तृप्ति, हमारे आनन्द का कारण बनता है। परन्तु वह दिव्यदेव (देवेभि:आगमत्,दिव्यगुणों के द्वारा आता है, दिव्यकर्मों के द्वारा आता है, दिव्य स्वभावों के द्वारा आता है। इसलिये यदि कोई स्तोता भक्त उपासक हृदय से यह चाहता है कि वह दिव्य देव आए, उसका उसे साक्षात्कार हो, उसका उसे साक्षात अनुभव हो, तो उसे चाहिये कि वह अपने गुण कर्म स्वभावों को दिव्य बनाए, वह अपने सोचने-विचारने, रहने-सहने, खाने-पीने, बैठने-उठने, चलने-फिरने, सोने-जागने, पढ़ने-लिखने, कहीं जाने-आने, देने-लेने आदि-आदि सर्व कर्मों को सब व्यवहारों

१—सर्व व्यापक होने से वह कहीं आता जाता नहीं पर समझाने के लिये ऐसा कहा जाता है। अत: उसके आने का अर्थ—"अनुभव में आना" समझना चाहिये।

को दिव्य बनाए-अनुपम बनाए—अलौकिक बनाए अर्थात् पवित्र बनाए।

सचमुच जिस दिन यह साधक अपने विचारों को दिव्य बना लेगा, अपने व्यवहारों को उत्तम बना लेगा तो निसन्देह उस समय तब यह अन्य सामान्य जनों से बहुत ऊपर उठ जायेगा, बहुत आगे बढ़ जायेगा। उस समय जब ऐसा व्यक्ति कुछ विचारेगा तो तब वह ऐसा लगेगा जैसे कि कोई देव (देवता) कुछ विचार कर रहा हो, जब वह कुछ पढ़ेगा-लिखेगा तो ऐसा लगेगा जैसे कि कोई देव पढ़—लिख रहा हो, जब यह कुछ बोलेगा तो ऐसा लगेगा जैसे कि कोई देव बोल रहा हो, जब वह कहीं बैठेगा तो वह ऐसा लगेगा जैसे कि कोई देव बैठा हो, जब वह कहीं चलेगा तो ऐसा लगेगा जैसे कि कोई देव चल रहा हो, जब वह देखेगा तो ऐसा लगेगा जैसे कि कोई देव देख रहा हो, जब वह कुछ खायेगा तो ऐसा लगेगा जैसे कि कोई देव-खा रहा है। तात्पर्य यह है कि जब वह कोई भी कार्य करेगा तो वह ऐसा प्रतीत होगा जैसे कि कोई देव-देवता ही वह कार्य कर रहा हो, या यों कह लीजिये कि तब उसके सर्व विध आचार-व्यवहारों से देवत्व टपकने लगेगा।

इस प्रकार जब उसके जीवन के सर्वाविध व्यवहारों से देवत्व प्रस्रवित होने लगेगा, अर्थात् जब वह सब प्रकार के स्वार्थों से ऊपर उठ जायेगा तो फिर (देवः आगमत्) वह दिव्य गुणों का भण्डार प्यारा परम देव परमात्मा आयेगा। अर्थात् उस साधक को- उस उपासक को उसका साक्षात्कार होने लगेगा, उसका साक्षात् दर्शन होने लगेगा, उसका साक्षात् अनुभव होने

लगेगा।

ऐसा दिव्य देव जब आता है तो वह (देवेभिः [सह] आगमत्) अपने दिव्य गुणों के साथ आता है। ऐसे दिव्य गुण कर्म स्वभावों के धनी परम देव परमात्मा का जब साधक को साक्षात् होने लगता है तो उस प्रभु के दिव्य गुण कर्म स्वभावों के साथ उसको उसका साक्षात् होता है। उस समय वह उस प्रभु में, उसके दिव्य गुण कर्म स्वभावों में ऐसा समर्पित हो जाता है कि फिर वह भी ब्रह्मविद् होकर ब्रह्मवत् प्रतीत होने लगता है। अर्थात् वह भी तब उस प्रभु के रंग में रंगा हुआ, उस प्रभु के ढग में ढला हुआ ऐसा तेजोमय, ओजोमय, प्रकाशमय, ज्योतिर्मय, आनन्दमय प्रतीत होने लगता है जैसा कि इस अग्नि में समर्पित हुआ-हुआ कोयला वा लोहा तेजोमय, ओजोमय, प्रकाशमय, ज्योतिर्मय हुआ-हुआ भासता है।

———

पञ्चम रश्मि

दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। ऋ० १.१.६ ॥

अन्वयार्थ :—(अग्ने! दाशुषे त्वं भद्रं करिष्यसि) हे प्रभो! तू दानी का भला करता है, तू समर्पित का कल्याण करता है।

व्याख्या :—(अग्ने!) हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! हे ज्ञान-स्वरूप जगदीश्वर! (दाशुषे त्वं भद्रं करिष्यसि) जो दाश्वान् है, जो दानशील है, जिसका सदा दान करने का स्वभाव बन गया है, जो अपने तन, मन, धन को प्रायः परोपकार में लगाता रहता है, ऐसे दानी परोपकारी सर्वंहितकारी मानव का तू सब प्रकार से भला करता है, कल्याण करता है।

यह जो दाश्वान् होता है, परोपकारी होता है वह इस जगत् में जो आयु अनुभव एवं ज्ञान आदि से वृद्ध होते हैं उनकी तन, मन, धन से सेवा करता है, शुश्रूषा करता है, उनका मान-सम्मान करता है। जो उसके समान होते हैं अर्थात् आयु, अनुभव, ज्ञान, शक्ति आदि से जो उसके तुल्य होते हैं, जो उसके बराबर होते हैं, कभी समय पड़ने पर ऐसे सखा-मित्र, बन्धु-बान्धवों को भी जो हृदय से स्नेह देता है, सहानुभूति देता है, सहयोग देता है, सहायता देता है, सहारा देता है, तथा जो आयु से छोटे होते हैं, जो अनुभव से छोटे होते हैं, ज्ञान से छोटे होते हैं, जो शक्ति से हीन होते हैं, जो धन, अन्न, वस्त्र आदि साधनों के अभाव में सदा पीड़ित रहते हैं, जो रोगी होते हैं, जो रोगी होकर स्नेह, दया सहानुभूति, सान्त्वना और औषध

आदि के लिए तरस रहे होते हैं, ऐसे दीन हीन दुर्बल अशक्त, असहाय जनों के दुःख दर्द को जो सुनता है, उनकी आपत्ति, विपत्तियों को जो देखता है, और फिर जो उन्हें स्नेह देता है, सहानुभूति देता है, औषध देता है, अन्न देता है, धन देता है, वस्त्र देता है, धीरज देता है, सान्त्वना देता है एवं उन्हें यथाशक्ति नीरोग - स्वस्थ - सशक्त कर सब प्रकार से ऊपर उठाने, और आगे बढ़ाने और सुखी करने का जो हार्दिक प्रयास करता है ऐसे कोमल सरल दयालु हृदय वाले दानी परोपकारी दिव्य जन का, हे प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभुवर ! आप सब प्रकार से भला करते हैं । अर्थात् उसको सब प्रकार से आप सुख - सौभाग्यों से सम्पन्न करते हैं, उसे आप सब प्रकार से धन, अन्न बल, पशु, प्रजा, घर, परिवार आदि सर्वविध ऐश्वर्यों से सम्पन्न करते हैं।

(२)-(अग्ने ! दाशुषे त्वं भद्रं करिष्यसि) हे ज्ञान प्रकाश के अनुपम स्त्रोत प्रभुवर ! जो इस जगत् में दाश्वान् है, दानशील हो, देने का जिसका स्वभाव बन गया हो। फिर धन, अन्न, वस्त्र आदि ही नहीं वरन् जिसने तेरे प्रति सब प्रकार से अपने आप को भी अर्पण कर दिया हो। और पूर्णतया आप के प्रति समर्पित हो जाने पर अब वह जो कुछ भी करता हो वह सब आप की ही प्रेरणा के अनुरूप करता हो, सब आप की ही आज्ञानुसार करता

---

२ करिष्यसि–करोषि । अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति लडर्थे लृट । १ दाशुषे । दाशृ दाने-|-क्वसु-दाश्वान्-दाशुषे-चतुर्थी वचन ।

हो, वह चाहे कहीं उठना हो, कहीं सोना हो, कहीं ठहरना हो, कहीं खाना हो, कहीं पीना हो, किसी से मिलना हो, किसी से बात करनी हो, किसी को कुछ देना हो, किसी से कुछ लेना हो, किसी को कुछ खिलाना-पिलाना हो, किसी से कुछ खाना-पीना, हो, किसी को कुछ स्नेह-सम्मान देना हो, किसी की कुछ सेवा करनी हो, किसी से कुछ स्नेह, सम्मान पाना हो, किसी से कुछ सेवा शुश्रूषा पानी हो इत्यादि कुछ भी कार्य क्यों न हो, वह सब प्रकार से आप की ही प्रेरणा के अनुरुप–आज्ञा के अनुरूप करता हो, ऐसे सब प्रकार से हृदय से समर्पित उपासक का आप पूर्णतया भद्र करते हैं, पूर्णतया कल्याण करते हैं। अर्थात् उस को सब प्रकार से आप निहाल करते हैं, उसको सब प्रकार से आप आनन्द विभोर करते हैं। वह भी ऐसे करते हैं कि फिर वह सब प्रकार से तृप्त हो जाता है, सब प्रकार से पूर्ण काम बन जाता है।



षष्ठ रश्मि

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।। ऋ० १-४-३ ।।

हे प्रभो ! तेरे निकटतम बसने वाले सत्पुरुषों के सहयोग से हम तुम्हें जानें ।

अन्वयार्थ:—हे परमेश्वर ! (अथ ते अन्तमानां सुमतीनां विद्याम) अब हम तेरे अत्यन्त समीपवर्ती श्रेष्ठ बुद्धि वाले महापुरुषों के मध्य में रह-रह कर तुझ को जानें ।

व्याख्या:—हे प्रभो ! जिस परमेश्वर को जानने की हम में अभिलाषा है, जिस प्यारे प्रभु का साक्षात्कार करने की हम में चाहना है, जिस अद्वितीय परब्रह्म परमेश्वर का अनुभव प्राप्त करने की हम में अत्यन्त लालसा है, हमें चाहिये कि उस के लिये हम उन महापुरुषों का सग करें जो मतिमान् हों, जो बुद्धिमान् हों, जो ज्ञानवान् हो, जो गुणवान् हों, जो विवेकी हों। अर्थात् हम उन सत्पुरुषों का सग करें कि जिन की बुद्धि सद्-असद् को समझती हों, जिन का ज्ञान शुभ - अशुभ का निर्णय कर सकता हो, जिनका विवेक भली - भाँति सद् - असद्, शुभ-अशुभ, धर्म - अधर्म, कर्तव्य - अकर्तव्य का विवेचन कर सकता हो। और फिर इतना ही नहीं कि वे केवल ऐसे बुद्धिमान् ज्ञानी विवेकी ही हों वरन् वे तो ऐसे हों जो कि स्वयं भी तदनुकूल आचरण करने वाले हों। ऐसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ महापुरुषों में भी जो उस प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु के अत्यन्त निकट बसते हों, जो सांसारिक भोग - विलासों से उपरत होकर प्यारे प्रभु में प्रायः डूबे रहते हों, जो पुत्रैषणा और लोकैषणा से सर्वथा

ऊपर उठकर धारणा ध्यान समाधि द्वारा कुछ अनुभव प्राप्त कर चुके हों, जो श्रद्धा भक्ति और विश्वास पूर्वक उस का जप तप आदि द्वारा कुछ प्यार और आशीर्वाद पा चुके हों, जो उस परम पवित्र प्यारे प्रभु के संग में रह - रह कर बहुत कुछ संभल चुके हों, जो उस परम पिता परमेश्वर के रंग में कुछ रंग चुके हों, जो उस दिव्य देव के ढग में कुछ ढल चुके हों, जो उस प्रभु के सान्निध्य से कुछ पवित्र हो चुके हों, जो उस तेजःस्वरूप-ओजः–स्वरूप प्रभु के सामीप्य से सहज ही कुछ तेजोरूप - ओजोरूप बन गए हों, जो उस ज्योतिर्मय जगदीश्वर की ज्योति से कुछ ज्योतिर्मय हो गए हों, जो उस प्रकाशस्वरूप प्रभु के प्रकाश से कुछ प्रकाशमय हो चुके हों, जो उस ज्ञानस्वरूप प्रभु के ज्ञान से कुछ ज्ञानरूप हो गए हों, जो इस ब्रह्माण्ड के अधिपति परमेश्वर के सन्निकर रह - रह कर अपने पिण्ड के कुछ ईश्वर बन गए हों, जो उस तृप्तमय प्रभु के संग में रह - रह कर कुछ तृप्त हो गए हों, जो उस आनन्दमय भगवान् की शरण में श्रद्धा से बैठ - बैठ कर कुछ आनन्दमय हो गए हों, ऐसे तेरे अन्तिकतम समीपतम वर्तमान रहवे वाले सच्चे-सुच्चे साधकों में वर्तमान रहते हुए हम भी शनैः शनैः तुझे जान जाएं, तुझे हा जाएं, तेरे तेज से कुज तेजोमय हो जाएं, तेरे ओज से कुछ ओजोनय हो जाएं, तेरी ज्योति से कुछ ज्योतिर्मय हो जाएं, तेरे प्रकाश से कुछ प्रकाशमय हो जाएं, तेरे ज्ञान से कुछ ज्ञानमय हो जाएं, तेरे दिव्य स्नेह से कुछ स्नेहमय हो जाएं, तेरे परम आनन्द से कुछ आनन्दमय हो जाएं।

———

सप्तम रश्मिः

स्यामिदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ऋ० १-४-६ ॥

अन्वयार्थ—[वयम्] हम (इन्द्रस्य इत् शर्मणि स्याम) हम इन्द्र की ही शरण में रहें, परमेश्वर की ही शरण में रहें।

व्याख्या—जो इन्द्र है, जो ऐश्वर्यशाली है, जो ऐश्वर्यशाली ही नहीं वरन् परमैश्वर्यशाली भी है, जो राजा है, जो महाराजा है, जो राजा–महाराजा ही नहीं वरन् राजाओं–महाराजाओं का भी राजाधिराज और महाराजाधिराज परमेश्वर है ऐसे (इन्द्रस्य इत् शर्मणि स्याम) इन्द्र–परमेश्वर–परम सम्राट प्यारे प्रभु की ही शरण में हम रहें, ऐसे जगत् विधाता सब को अपनी न्याय व्यवस्था में नियन्त्रित रखने वाले राजाधिराज–राजेश्वर प्रभु के ही आश्रय में हम रहें।

वह इन्द्र ऐश्वर्यशाली है ! चूंकि इस संसार में जितना भी ऐश्वर्य है, जितना भी धन - वैभव है, जितना भी सुख–सौभाग्य है वह सब उसी इन्द्र-प्रभु का ही तो है। ये सूर्य-चन्द्र ये द्यावा - पृथिवी, ये हीरे - जवाहरात, ये सोना - चान्दी, ये ताम्बा - पीतल, ये जस्ता - लोंहा, ये धन - धान्य, ये अन्न-पान, ये फल - फूल, ये शाक - दाल, ये दुग्ध - घृत, ये मलाई-मक्खन, ये षड्विध रस आदि - आदि सब ऐश्वर्य उसी प्रभु ने ही तो उत्पन्न किया हुआ है। वही ही तो एक मात्र सब ऐश्वर्यों का स्वामी है और वही ही तो एक मात्र इन सब प्राणियों को अपने - अपने कर्मों के अनुरूप यह सब प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान

करता रहता है, यह सब प्रकार का धन - धान्य और सुख-सौभाग्य प्रदान करता रहता है।

उसी इन्द्र–परमेश्वर की ही अनुपम न्याय व्यवस्था से ही हम इस जगत् में जाति [योनि] आयु और भोग को प्राप्त करते हैं। उसी की ही विलक्षण व्यवस्था से हम सब प्रकार के सुख-सौभाग्यों को भोगते हैं, हम सब प्रकार की सुख-सुविधाओं को उपलब्ध करते हैं।

वह इन्द्र परमेश्वर केवल इस जागतिक–केवल इस सांसरिक ऐश्वर्यों का ही स्वामी नहीं है वरन् वह तो परमैश्वर्य रूप परमानन्द का भी स्वामी है। इस लिये उस के द्वार पर हमें वह परमैश्वर्य–वह परमानन्द भी मिल सकता है। परन्तु वह मिलता तब ही है जब कि इस सांसरिक सर्वविध ऐश्वर्यों को पा कर भी सांसारिक सर्वविध सुख - सौभाग्यों को उपलब्ध कर के भी हम इस में रमते नहीं–इस में डूबते नहीं वरन् कमल की भान्ति इस में रह कर भी हम इस से ऊपर रहते हैं, हम इस से उपरत रहते हैं तो तब वह प्रभु फिर हमें वह अपना परमैश्वर्य–अपना वह परम आनन्द भी प्रदान करता है।

इस संसार का राजा यदि कभी हम पर प्रसन्न भी हो जाय तो वह केवल इस सांसारिक ऐश्वर्य से ही–केवल इस सांसारिक धन - धान्य से ही, केवल इन सांसारिक सुख-सुविधाओं से ही हमारी झोली भर सकता है, वह भी तब जब कि उस पर उस दिव्य देव की इस दृष्टि से कृपा होती रहे। परन्तु अगर वह जगत् सम्राट् परमेश्वर हम पर प्रसन्न हो जाएं तो फिर केवल सांसारिक ही नहीं वरन् पारमार्थिक ऐश्वर्य से भी

वह हमारी झोली भर देता है, हम सांसारिक सुख = सौभाग्यों से ही नहीं वरन् उस परम सौभाग्य रूप अर्थात् अपने साक्षात्कार रूप महान् सौभाग्य से भी हमें वह निहाल कर देता है। अर्थात् वह ऐसा द्वार है जहां हम अभ्युदय एवं निःश्रेयस–दोनों को ही पा जाते हैं, और तब सब प्रकार से पूर्ण काम हो जाते हैं। अतः हमें चाहिये कि हम उसी की ही शरण में सदा वर्तमान रहें–उसी के ही आश्रय में सदा विद्यमान रहें। वही सब से बड़ा आश्रय है, वही सब से बड़ा सहारा है, वही सब से उत्तम टेक है। कठोपनिषद् में ऋषि ने ठीक ही कहा है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ कठो० २.१७॥

यह सहारा श्रेष्ठतम है और ज्येष्ठतम है। इस आश्रय को जो पा लेता है उस को फिर किसी अन्य आश्रय की अपेक्षा नहीं रहती। तब तो वह ब्रह्म में लीन हुआ = हुआ सदा अहिंसा को ही अनुभव करता रहता है।

अष्टम रश्मिः

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता ॥ यजु० ३२-१० ॥

अन्वयार्थः :— (सः नः बन्धुः) वह हमारा बन्धु है, (जनिता) वह हमारा उत्पादक है, (सः विधाता) वह हमारा विधाता है।

व्याख्या :— हम उस प्रभु को क्यों उस के समीपस्थ महापुरुषों के सहयोग से जानें और क्यों उस का आश्रय लेवें—क्यों उस की शरण में जाएं ? इसीलिये कि—

(सः नः बन्धुः) वह हमारा बन्धु है। यों बन्धु तो यह हमारा मां जाया भाई भी है, और यह हमें हृदय से स्नेह भी देता है, लाड़ भी देता है, प्यार भी देता है, सलाह-मशवरा भी देता है, सहानुभूति भी देता है, सान्त्वना भी देता है, सहायता भी देता है, सहयोग भी देता है, फिर यह सब कुछ यह तन-मन धन से देता है। परन्तु फिर भी जैसा हमारा वह बन्धु है, वैसा कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। क्योंकि जैसे वह हमें स्नेह देता है, जैसे वह हमें लाड देता है, जैसे वह हमें प्यार देता है, जैसी वह हमें सलाह देता है, जैसी वह हमें सहानुभूति देता है, जैसी वह हमें सान्त्वना देता है, जैसी वह हमें सहायता देता है, जैसा वह हमें सहयोग देता है, ऐसा तो इस संसार में कोई दे ही नहीं सकता और फिर जितना यह सब कुछ वह हमें दे सकता है इतना तो कोई दे ही नहीं सकता। क्योंकि इस संसार के जितने भी बन्धु हैं, उन सब के स्नेह-लाड और प्यार में, सलाह, सहानुभूति, सहायता और सहयोग में वह ऊंचाई नहीं, वह विशालता नहीं, वह

सरलता नहीं, वह निश्छलता नहीं, वह स्वाभाविकता नहीं जो कि उस प्यारे और सब जग से न्यारे उस परम बन्धु परमात्मा के स्नेह सहयोग आदि में है।

हम इस संसार में यहां देखते हैं कि जहां इस बन्धु-भाई के स्वार्थ को कहीं आंच आती है, इस की इच्छा-अभिलाषा की जहां जरा अवहेलना होती है, इस के मान-सम्मान में किञ्चिद् अन्तर आता है; इस की सेवा-शुश्रूषा में कुछ न्यूनता आती है, समय पर इस की सहायता वा इसके सहयोग में कुछ फर्क पड़ता है तो वहां यह बन्धु फिर बन्धु नहीं रहता, अर्थात् यह बन्धु अपने इस बन्धु को फिर देखना नहीं चाहता, यह बन्धु अपने इस बन्धु से फिर बात नहीं करना चाहता, यह बन्धु अपने इस बन्धु के पास फिर बैठना नहीं चाहता, यह बन्धु अपने इस बन्धु को फिर स्नेह-लाड और प्यार नहीं देना चाहता यह भाई अपने इस भाई को फिर सलाह-मशवरा नहीं देना चाहता, यह भाई अपने भाई के प्रति फिर सहानुभूति नहीं रखना चाहता, यह भाई अपने भाई को फिर सान्त्वना नहीं देना चाहता, यह भाई अपने भाई की फिर सहायता नहीं करना चाहता, यह भाई अपने भाई को फिर किञ्चिद् भी सहयोग नहीं देना चाहता। परन्तु वह प्यारा और सब जग से न्यारा बन्धु ऐसा नहीं है। वह तो सर्वथा सर्वदा इन बन्धुओं से विलक्षण रहता है। वह तो इन सामान्य स्वार्थों से ही नहीं वरन् सर्वविध स्वार्थों से सर्वदा सर्वथा ऊपर ही उठा रहता है। वह जैसा भी जितना भी हमें स्नेह देता है, लाड देता है, प्यार देता है, सुझाव देता है; सन्मार्ग के लिये सत्प्रेरणा देता है, सहानुभूति-सहयोग देता है, धन-धान्य देता है, सुख-सौभाग्य देता है, उस के पीछे

उसका तनिक भी तो स्वार्थ नहीं होता। इस विषय में वह इतना विलक्षण है, इतना अद्भुत है, इतना निराला है, इतना आला [= उत्तम] है कि हृदय उस को अनुभव तो कुछ कर पा रहा है और इस अनुभव से कुछ दिव्य तृप्ति सी भी अनुभव कर गद्गद् हो पा रहा है पर फिर भी उस को वाणी शब्दों में कुछ अभिव्यक्त नहीं कर पा रही है, लेखनी शब्दों में स्पष्ट रूप से लिख नहीं पा रही है।

वह प्रभुवर—हमारा सच्चा-सुच्चा बन्धु केवल इतना ही नहीं कि वह हमारे साथ स्नेहवश बन्धा हुआ हो वरन् वह तो हमारा (जनिता) जनक भी है–उत्पादक भी है–जननी भी है, जनक भी है–माता भी है, पिता भी है।

अब इस संसार में जो जिस का जनक होता है, उत्पादक होता है, उत्पन्न करने वाला होता है, माता-पिता के रूप में होता है उस का उस अपने उत्पन्न किये हुए बालक के साथ कितना स्नेह होता है, कितना लाड होता है, कितना प्यार होता है, कितना लगाव होता, उस के निर्माण में उसका कितना हाथ होता है, उस के पालन-पोषण में, उस की शिक्षा-दीक्षा में उसका कितना योगदान होता है। अब यदि इस संसार के के अस्थायी जननी-जनक, माता-पिता का यह सब होता है तो फिर उस (जनिता) स्थायी सच्चे उत्पादक–सच्चे जननी–जनक के रूप में विद्यमान प्यारे प्रभु का तो स्नेह कितना विलक्षण होगा, लाड कितना अद्भुत होगा, प्यार कितना निराला होगा, लगाव कितना विचित्र होगा, निर्माण कितना अद्वितीय होगा, उस की सीख वा शिक्षा-दीक्षा कितनी निर्मल होगी, सान्त्वना कितनी स्वच्छ होगी, सहायता कितनी

स्तुत्य होगी, सहयोग कितना दिव्य होगा, पालन-पोषण कितना भव्य होगा, यह आप स्वयं समझ सकते हैं। और अगर नहीं समझ सकते हैं तो जाकर उन सत्पुरुषों से—उन सच्चे साधकों से—उन ज्ञानी तपस्वी संन्यासी ऋषि महर्षियों से जिज्ञासु भाव से पूछ सकते हैं कि वह बन्धु कैसा है, वह जनिता-उत्पादक कैसा है, उस का स्नेह कैसा है, उस का प्यार कैसा है, उस का लाड़ कैसा है, उस का सहयोग कैसा है, उस का पालन-पोषण कैसा है..........?...इत्यादि।

अपने इन्हीं विलक्षण स्नेह-सहयोगों के कारण—अपने इन्हीं अद्भुत लाड-प्यारों के कारण—अपनी इन्हीं अनुपम शिक्षा-दीक्षाओं के प्रदान करने के कारण, अपनी प्यारी और सब ढंग से न्यारी सत्प्रेरणाओं के कारण, अपने इन विशेष निःस्वार्थ सहज अद्वितीय पालन-पोषण के कारण, अपने इन उत्तम धारण पोषण के कारण से ही तो वह हमारा बन्धु और जनिता ही नहीं, धाता-धारणकर्ता ही नहीं वरन् "विधाता" भी कहलाता है।

उस के "विधाता" होने में एक और भी बड़ा रहस्य है वह यह है कि वह जहां संसार में हमें नानाविध पदार्थ—खाद्य—पेय—चूष्य (चूसने योग्य) अवलेह आदि प्रदान कर हमारे शरीर को पुष्ट करता रहता है, जहां वेदों के माध्यम से और अपनी सत्प्रेरणाओं के माध्यम से वह हमें अनुपम ज्ञान-अद्वितीय विचार प्रदान कर हमें ऊपर उठाता और आगे बढ़ाता रहता है, हमारे मन को सुमन-शान्तमन, बुद्धि को सुबुद्धि बनाने का और हमारी आत्मा को सबल-सशक्त बनाने का

सहस्र प्रयास करता है, तथा इस सब कुछ करने से वह कभी भी जहां थकता नहीं, हारता नहीं, निराश नहीं होता, हताश नहीं होता वहां हमारे उस की आज्ञाओं पर–प्रेरणाओं पर समर्पित होकर आचरण करने पर फिर वह हमें पर प्रसन्न हुआ - हुआ हमें भीतर से विलक्षण तृप्ति वह अनुपम आनन्द भी प्रदान करता है जिस से हमारे इस स्वस्थ शरीर में स्वस्थ - शान्त मन के साथ - साथ आत्मा भी प्रभु का अद्भुत प्यार और आशीर्वाद पाकर निहाल हो जाता है—पुष्ट - परिपुष्ट हो जाता है। यह सब कुछ यह जगत् का सामान्य धाता - धारण करने वाला बन्धु, जनिता - जनक और धाता–धारण करता हुआ पिता नहीं कर सकता। इसलिये वह हमारा सच्चा बन्धु है, सच्चा जनिता = पिता है और अद्भुत धाता अर्थात् "विधाता" है।

नवम रश्मिः

एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ॥ अ० २.२.१ ॥

अन्वयार्थ :—(एकः एव नमस्यः) वह एक–अद्वितीय परमेश्वर ही नमस्कार करने योग्य है और (विक्षु ईड्यः) प्रजाओं में स्तुति करने योग्य है ।

व्याख्या—वह प्रभु जो हमारा सच्चा बन्धु है, हमारा सच्चा जनक–पिता है, हमारा सच्चा पालक-पोषक है, हमारा वास्तव में भरण-पोषण करने वाला है । वह एक ही है, अद्वितीय ही है । अर्थात अपने आप में उस जैसा कोई दूसरा है ही नहीं, वही (एकः एव नमस्यः) एक परमेश्वर ही ऐसा है जो सब प्रकार से नमन करने योग्य है, सब प्रकार से पूजने के योग्य है, सब प्रकार से अपनाने के योग्य है, सब प्रकार से आराधना के योग्य है, सब प्रकार से उपासना के योग्य है, सब प्रकार से धारणा ध्यान समाधि द्वारा जानने के योग्य है, सब प्रकार से साक्षात करने के योग्य है, सब प्रकार से अनुभव में लाने के योग्य है ।

इतना ही नहीं वह प्रभु तो इतना प्यारा और न्यारा है कि वह (विक्षु ईड्यः) सब प्रजाओं में—सब मनुष्यों में सब प्रकार से स्तुति के योग्य है, स्तवन के योग्य है, प्रशंसा के योग्य है, भजन के योग्य है, गुणगान करने के योग्य है, प्रार्थना के योग्य है, याचना के योग्य है । अतः सब मनुष्यों को चाहिये कि यदि वे कभी स्तुति करें, स्तवन करें गान करें, पूजा करें, उपासना करें, आराधना करें तो उसी एक प्रभु की ही करें—उसी एक

अद्वितीय परम पावन परमेश्वर की ही करें।

यह सब कुछ मनुष्य यदि करें तो भाट के समान अपने आराध्य देव के धन वैभव, सुख-सौभाग्य आदि पर दृष्टि रख कर कभी न करें वरन् वे सच्चे साधक बन कर—सच्चे आराधक बन कर, सच्चे उपासक बन कर अपने उस प्यारे और जग से न्यारे उपास्य देव परम पिता परमेश्वर के गुण कर्म स्वभावों पर मुग्ध होकर ही करें जिस से कि उस पावन प्रभु के दिव्य गुण कर्म स्वभाव सत्य न्याय दया पवित्रता आदि उन में सहज ही घर कर जाएं। और उन में वे गुण ऐसे समा जाएं कि फिर जो भी उन के सम्पर्क में आए उस के प्रति सहज ही उस नमस्करणीय स्तुत्य पावन प्रभु के समान उन उपासकों से भी सत्य न्याय दया एव पवित्रता पूर्वक उत्तम व्यवहार ही होता रहे ताकि जैसे प्रभु के सम्पर्क मे आकर वे साधक तृप्त हुए हैं वैसे इन साधकों के सम्पर्क में आकर अन्य भी सब प्रसन्न हों।



दशम रश्मिः

तमु ष्टवाम य इमा जजान । ऋ० ८.९६.६ ॥

अन्वयार्थ. (तमु उ स्तवाम) हम उस को ही भजें, उसका ही स्तवन करें (यः इमा जजान) जो इन सब को उत्पन्न करता है, जो इन सब लोक-लोकान्तरों मे विद्यमान नानाविध प्रजाओं को उत्पन्न करता है, अर्थात् जलचर स्थलचर और नभचर मत्स्य, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि आदि नाना प्रकार के प्राणियों को उत्पन्न करता है, जो इन सब प्राणियों की सुख सुविधाओं के लिये इन लोक लोकान्तरों में स्थित अग्नि विद्युत चन्द्र सूर्य आदि को उत्पन्न करता है, जो सब के सुख - सौभाग्यों के लिये तथा इन में विद्यमान जल-वायु तथा नानाविध खनिज पदार्थों को उत्पन्न करता है, अनेकविध खाद्य एवं पेय, चूष्य एवं लेह्य पदार्थों को उत्पन्न करता है। यह सब कुछ उत्पन्न करके भी वह स्वयं इन सब का उपभोग नहीं करता वरन् वह अपनी न्याय व्यवस्था से हमारे कर्मों के अनुसार हमें ही यह सब कुछ प्रदान करता है ताकि हमारा जीवन सुख पूर्वक व्यतीत हो सके।

उस प्यारे प्रभु ने जहां हमारी सुख - सुविधाओं के लिये हमें ये सर्वविध पदार्थ प्रदान किये हैं वहां उस ने हमारे कल्याण के लिये संसार में इन वेदों का भी आविर्भाव किया है। इसलिये कि उन का स्वाध्याय कर के मनन - चिन्तन - निदिध्यासन आदि कर के हम ऐसी विधि से इन प्रभु प्रदत्त संसार के सुख-सौभाग्यों का सदुपयोग कर सकें कि जिस से जहां हमें इस लोक

में सुख मिले वहां हमारा परलोक में भी कल्याण हो, वहीं हम बाह्य भौतिक सुख-सौभाग्यों को भोग सकें वहां हम आन्तरिक-आध्यात्मिक सुख आनन्द से भी अपने को निहाल कर सकें। अर्थात् जहां हम अभ्युदय को पा सकें वहीं हम निःश्रेयस के भी पात्र बन सकें।

यह उभयविध सुख - आनन्द हमें तभी मिल सकता है जब कि हम जहां वेद के अद्वितीय ज्ञान द्वारा उस प्रभु के बनाए हुए इन सांसारिक सर्वविध पदार्थों का यथोचित उपभोग करें वहां हम को हमारे कर्मानुसार जन्म देकर जिस ने हमारे सुख--सौभाग्यों के लिये इन लोक - लोकान्तरों को और इन लोक--लोकान्तरों में विद्यमान इन अग्नि, विद्युत, सूर्य, चन्द्र, वायु, जल अन्न, शाक - पात, फल - फूल आदि पदार्थों को उत्पन्न किया है हम उस को भी कभी भूलें नहीं, हम उस को भी कभी अपने से ओझल न होने दें, हम उस को भी कभी अपने से अन्तर्हित न होने दें---।

हम में यह एक बहुत बड़ी कमजोरी है कि जिस की महती कृपा से--जिस की अनुपम न्याय व्यवस्था से हम को यह सर्वविध सुख - सौभाग्य के साधन मिलते हैं हम उस को ही भूल जाते हैं। अर्थात् हम तब इन सुख - सौभाग्यों के साधनों में इतने डूब जाते हैं कि फिर इन साधनों के द्वारा जो साध्य प्रभु है उस का तो हम कभी ध्यान ही नहीं कर पाते। यही कारण है कि तब यही सब साधन हमारे सांसारिक सुख और पारमार्थिक सुख - मोक्ष के कारण न बनकर हमारे बन्धन के--हमारे दुःखों

के कारण बन जाते है। हमें सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि भले ही हमारे पास कितनी भी सुख-सुविधाओं की सामग्री क्यों न हो जाय पर तब तक हमारे हृदय की कली खिल नहीं सकती जब तक कि हमें उस महान् प्रभु का प्रकाश न मिले, हमें उस प्यारे प्रभु का प्यार और आशीर्वाद न मिले। एक गुलाब के पौधे को कितने भी सुन्दर गमले में, कितनी भी सुन्दर मिट्टी में, कितना भी सुन्दर खाद-पान देकर, कितने भी बढ़िया पंखे की वायु क्यों न प्रदान कर दी जाय, पर फिर भी यदि कमरा बन्द कर दिया जाय तो हम देखते हैं कि वह गुलाब का पौधा खिलता नहीं, खिलने की बात तो पृथक् रही वह तो और भी कुम्हला जाता है। हम गुलाब के पौधे से पूछते है-"हे प्रिय गुलाब के पौधे! तुम्हें इतनी सब सुख-सुविधायें दी गयीं फिर भी तू खिल न सका, इस का कारण क्या है?" इस के उत्तर में गुलाब का पौधा कहता है-"हे भोले मानव! इस में कुछ सन्देह नहीं कि तू ने मुझे सब कुछ दिया पर एक सूर्य का प्रकाश मुझे नहीं दिया, इसलिये मैं खिल नहीं सका, इसलिये मैं हरा-भरा होकर खिले हुए फूलों से सम्पन्न नहीं हो सका......—।" सो यह सत्य है, यह वास्तविक तथ्य है कि भले ही हमारे पास उस प्यारे प्रभु के प्रदान हुए कितने भी सुख-सौभाग्य के नाना-विध पदार्थ क्यों न हो जायें पर यह हमें सदा स्मरण रखना चाहिये कि उस गुलाब के पौधे के समान इस सब धन-वैभव के रहने पर भी हमारे हृदय की कली तब तक नहीं खिल सकती जब तक कि हम को इन सब पदार्थों के निर्माण करने वाले, कर्मानुसार इन सब के प्रदान करने वाले, प्यारे प्रभु का प्रकाश न मिले—प्यार न मिले। सो इसलिये यहां अनुभवी उपासकों का-प्रभु के प्रिय भक्तों का यह कहना है कि—हमें चाहिये कि —(य:-

इमा जजान) जिस प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु ने इन सब भोगों को उत्पन्न किया है, हम इन सब का उपभोग तो करें पर इन में डूबे नहीं। हम इन भोगों के सागर पर तैरते हुए, (नमु-उ स्तवाम) उस ही परम प्यारे प्रभु की श्रद्धा भक्ति से स्तुति करें, स्तवन करें, भजन करें, गुणगान करें और ऐसे कृतज्ञता से विभार हो कर करें, ऐसे समाधिस्थ होकर करें कि फिर उसके बनाए हुए ये सब पदार्थ तो हम से ओझल हो जाए पर वह प्रभु सदा हमारे सम्मुख रहे। फिर उस में हम ऐसे मग्न हो जाए कि हमें सदा सर्वत्र इन पदार्थों में उस का ही ज्ञान होता रहे, उस का ही भान होता रहे। हमें विश्वास है कि ऐसा होने पर फिर हम उस से वह दिव्य सुख--वह परम प्रसाद-वह अनुपम आनन्द भी पा जायेंगे जिसके लिये कि हमारा आत्मा युग - युगान्तरों से लालायित रहता रहा है।

———

एकादश रश्मिः

यजाम इन्नमसा वृद्धमिन्द्रम् । ऋ० ३ ३२-७॥

अर्थः—हम नमस्कार से ही उस महान् इन्द्र की पूजा करते हैं।

अन्वयार्थः—(वयम) हम (वृद्धम् इन्द्रम् इत् नमसा यजामः) महान् इन्द्र परमेश्वर को ही नमन द्वारा पूजते हैं, श्रद्धा भक्ति से उपासते हैं।

वह इन्द्र परमेश्वर वृद्ध है, हम से सब प्रकार से बढ़ा हुआ है। हम अल्पज्ञ है, वह सर्वज्ञ है, अतः ज्ञान की दृष्टि से वह हम से बढ़ा हुआ है। हम एक देशी हैं और वह सर्वदेशी हैं, हम व्याप्य है, वह व्यापक है, अतः इस दृष्टि से भी वह हम से वृद्ध है। हम अल्प सामर्थ्य वाले हैं वह अनन्त सामर्थ्य वाला है, अतः वह हम से वृद्ध है। हम सत् चित् हैं, जबकि वह सत् चित् आनन्द स्वरूप है, अतः आनन्द की दृष्टि से भी वह हम से वृद्ध है। हम काया वाले हैं, हम शरीरों वाले हैं, जबकि वह अकाय है, अशरीर है, फिर भी आश्चर्य यह है कि हम शरीरों के रहने पर भी वे सब कार्य नहीं कर पाते जो कि वह 'बना शरीर के भी कर लेता है, अतः इस दृष्टि से वह हम से बढ़ा हुआ है।

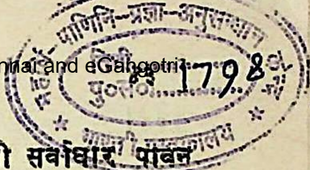
हमारे पास आंखें हैं पर हम आंखों के रहने पर भी वह सब कुछ नहीं देख पाते जो कि वह बिना आंखों के भी देख लेता

है। हमारे पास हाथ हैं पर इन हाथों के विद्यमान रहने पर भी हम वह सब कुछ नहीं कर पाते जो कि वह बिना हाथों के भी कर लेता है। हमारे पास पैर हैं, चरण हैं पर इन पैरों—चरणों के विद्यमान रहने पर भी हम सर्वत्र नहीं चल पाते—सर्वत्र नहीं पहुँच पाते जबकि वह बिना पैरों के भी—बिना चरणों के भी सर्वत्र चल पाता है, सर्वत्र पहुँच पाता है। हमारे-श्रोत्र हैं पर आश्चर्य यह है कि इन दोनों श्रोत्रों के विराजमान रहने पर भी हम वह सब कुछ नहीं सुन पाते जो कि वह बिना श्रोत्रों के भी सुन लेता है। हमारे पास मन-बुद्धि है पर फिर भी आश्चर्य यह है कि हम वह सब मनन नहीं कर पाते, वह सब कुछ नहीं विचार पाते जो कि वह बिना मन-बुद्धि के भी विचार लेता है। हम सब इतनी न्याय की पुस्तकें पढ़ लेने पर भी और सही-सही बात जान लेने पर भी राग-द्वेष काम क्रोध लोभ मोह भय आदि के कारण प्रायः न्याय नहीं कर पाते, और अगर कुछ थोड़ा-बहुत न्याय कर भी पाते हैं तो भी उस प्रभु की कृपा और प्रेरणा से ही कर पाते हैं। पर इन न्याय नियमों के पोथों को बिना पढ़े हुए भी उस का न्याय निराला है। वह दयालु है जब कि हम प्रायः निर्दयी हो कर व्यवहार करते हैं और अगर कुछ दया पूर्ण व्यवहार कर भी पाते हैं तो उस प्रभु की ही प्रेरणा से कर पाते हैं। वह अजन्मा है, जन्म - मरण के चक्र से सर्वथा सर्वदा मुक्त है जब कि हम अपनी राग - द्वेष की प्रवृत्तियों के कारण अपनी वासनाओं के कारण जन्म - मरण के चक्र पर सदा आरूढ़ रहते हैं। और यदि कभी इस जायस्व - म्रियस्व के,

---

१ क्योंकि वह सर्वव्यापक है।

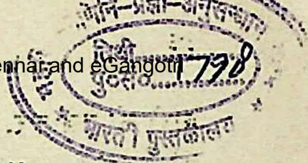
इस जन्म - मरण चक्र से पर्याप्त लम्बे काल तक के लिये मुक्त भी हो पाते हैं तो भी उस प्रभु की प्रदान की हुई वेदवाणी एवं सत्प्रेरणा ही के बल पर हो पाते हैं। वह अनन्त है जब कि हम अन्त वाले हैं, भले ही हम आत्मरूप से अन्तवाले न हों, पर हमारे शरीरों का अन्त तो होता ही है। वह सर्वदा सर्वथा निर्विकार रहता है जब कि हम में विकार आ जाते हैं। वह सर्वाधार है जब कि हम पग–पग पर दूसरों को आधार बना कर ही कहीं टिक पाते हैं, कहीं स्थिर होकर खड़े हो पाते हैं। और अगर हम कहीं किन्हीं के आधार बन भी पाते हैं तो भी किन्हीं अंशों में, किन्हीं समय विशेषों में, किन्हीं अवस्था विशेषों में। वह सर्वेश्वर है, सब का स्वामी है जब कि हम अपनी इन इन्द्रियों के—अपने इस तन - मन के भी स्वामी नहीं है। वह सर्वनियन्ता है, सर्वान्तर्यामी है, सब को अपने नियम में (controle) में नहीं रख पाते। और अगर कुछ थोड़ा-भहुत अपने पर कन्ट्रोल कर भी पाते हैं तो वह भी उस प्रभु की कृपा से ही कर पाते हैं। वह अजर है, अमर है अर्थात् वह कभी जीर्ण नहीं होता, वह कभी मरता नहीं, जब कि हम जीर्ण भी होते हैं—बूढ़े—वृद्ध भी होते है, और शरीर से वियुक्त हो जाने पर मरते भी हैं। उस इन्द्र को तो वेद में 'सदायुवा' कहा गया है जब कि हम कभी बालक होते हैं, कभी युवा होते हैं, कभी वृद्ध होते हैं और कभी मर भी जाते हैं। वह सर्वथा निर्भय है जब कि हम में समय - समय पर भय व्याप जाता है। वह नित्य पवित्र रहता है जब कि हम में पाप व्याप जाता है। इस तरह हम सर्वदा सर्वथा निष्पाप निष्कलंक नहीं रह पाते जब कि वह नित्य शुद्ध - पवित्र, निष्पाप एवं निष्कलंक रहता है। और यदि हम कुछ शुद्ध - पवित्र, निष्पाप-



निष्पाप-निष्कलंक रह भी पाते हैं तो भी उसी सर्वाधार पावन प्रभु की कृपा से ही रह पाते हैं। वह सारी सृष्टि का रचयिता है जब कि हम कुछ भी तो नहीं बना सक पाते, और अगर कुछ थोड़ा बहुत बना पाते हैं तो भी उसी की ही प्रदत्त प्रेरणा और ज्ञान के आधार पर ही बना पाते हैं। वह कवि है, ज्ञानी है, मनीषी है, मन तक की बात को जानने वाला है। वेद जैसे अद्वितीय ज्ञान को जिसने मानवों के कल्याण के लिये दिया हुआ है, वह अद्वितीय दिव्य देव अपनी सत्ता से ही सर्वत्र विराजमान है जब कि हम सदा अन्यों को आधार बना कर ही खड़ा खड़े रह पाते हैं।

वह इन्द्र है, ऐश्वर्यशाली है। फिर वह केवल इस अवर ऐश्वर्य का ही स्वामी नहीं है बरन् परमैश्वर्य का भी स्वामी है। हम तो इस दृष्टि से सर्वथा कंगाल हैं, क्योंकि न तो हमारे पास यह सासांरिक ऐश्वर्य रहता है और न ही परमैश्वर्य-परमानन्द। और अगर हमारे पास संसार में कुछ थोड़ा-बहुत ऐश्वर्य - धन-धान्य-सुख-सौभाग्य हो भी पाता है तो वह भी उस ऐश्वर्य-शाली प्रभु की न्याय व्यवस्था के आधार पर--उस की कृपा के आधार पर। ऐसे ही हमें यदि परमैश्वर्य परमानन्द-मोक्षानन्द भी कुछ मिल पाता है तो वह भी उस प्यारे प्रभु की महती कृपा से ही मिल पाता है। सो ऐसे सब प्रकार से जो इन्द्र-जो परमेश्वर हम से बढ़ा हुआ है, ऐसे उस महान् अद्वितीय परम परमेश्वर का ही हम उपासक नमन पूर्वक-कृतज्ञता पूर्वक श्रद्धा भक्ति से यजन करते हैं, भजन करते हैं, पूजन करते है, संग करते हैं, और अन्त में उस के प्रति पूर्णतया आत्म समर्पण कर उस में ऐसे खो जाते हैं, उस में ऐसे तल्लीन हो जाते हैं कि फिर अपना

तो पता रहता नहीं, हां रहता है तो केवल प्रभु का पता ही रहता है। ऐसे समय तो बस हमें सर्वत्र वह ही वह भासता है। और जब वह ही वह भासता है तो फिर आनन्द ही आनन्द हो जाता है।



स न इन्द्रः शिवः सखा । ऋ० ८.९३.३॥

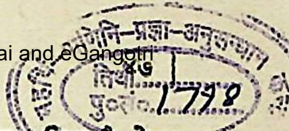
अन्वयार्थः (सः इन्द्रः नः शिवः सखा) वह इन्द्र हमारा कल्याणकारी मित्र है । वह इन्द्र - जगत् सम्राट् प्रभु - वह सर्वविध ऐश्वर्यों का स्वामी परमेश्वर हमारा कल्याणकारी सखा है ।

व्याख्या—वह प्रभु हमारा वास्तव में कल्याणकारी सखा है । ये संसारी सखा-मित्र-दोस्त तो हमारे किन्हीं स्वार्थों से ही हमारे सखा - मित्र - दोस्त आदि बन जाते हैं, पर वह तो है ही हमारा सच्चा निःस्वार्थ सखा । इसलिए इन सांसारिक सखा मित्रों के स्वार्थ में जहां भी किञ्चिद् अन्तर आया वहीं ही वे हम से परे हो जाते हैं - पृथक् हो जाते हैं, परन्तु वह प्रभु ऐसा नहीं है ।

इस जगत् में जब हमारा कोई 'हमउमर' होता है, जब हमारी आयु किसी के समान होती है, जब हमारा धन वैभव किसी के लगभग तुल्य होता है, जब हमारे गुण कर्म स्वभाव किसी के समान होते हैं, जब हमारे आचार विचार और व्यवहार किसी के साथ मिलते हैं तो फिर वह हमारा सखा बन जाता है । यद्वा किन्हीं भी कारणों से हमारा किसी के प्रति स्नेह हो जाता है, किसी से प्यार हो जाता है, किसी से हित हो जाता है । जैसे किसी दूसरे के गुणों को देख-कर किसी दूसरे के कर्मों को देख कर, किसी दूसरे के व्यव-

हारों को देख कर, किसी दूसरे के स्वभावों को देख कर, किसी की हितकर भावनाओं और प्रवृत्तियों को देखकर वा किसी की किसी समय-असमय पर अपने प्रति स्नेह सहानुभूति सहायता को देखकर, तो फिर झट हम यह भी देखते हैं कि जहां वे कारण हटते हैं, जहां वे हेतु समाप्त होते हैं वहां वह घनिष्ट से घनिष्ट सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है दृढ़ से दृढ़ मित्रता-दोस्ती भी टूट जाती है।

परन्तु यह सब कुछ प्रभु में नहीं है वह प्यारा प्रभु तो हमारा सहज सखा है, निःस्वार्थ और निष्कलङ्क सखा है फिर वह "शिवः सखा" कल्याणकारी सखा है. सब प्रकार से पूर्ण हितकारी सखा है। ये सांसारिक सखा मित्र दोस्त तो हम से तब ही तक सखा-मित्र-दोस्त रहते हैं जब तक कि अनुकूलता बनी रहती है। जहां अनुकूलता चली गई वहां मित्रता भी चली जाती है। फिर अनुकूलता में भी ये सांसारिक सखा केवल हमें सांसारिक स्नेह सहानुभूति और सहयोग मात्र प्रदान कर के ही तो सुखी और प्रसन्न कर सकते हैं और वह भी उस प्रभु की कृपा और अनुकूलता बनी रहे तो तब तक ही। परन्तु वह प्रभु तो हमारा ऐसा सखा है, ऐसा मित्र है, ऐसा दोस्त है, जो कि जहां हमें इस संसार में पग-पग पर स्नेह सहानुभूति सहयोग दे-दे कर सदा स्थिर रूप से खड़ा रखता है, वहां वह हमें निरन्तर आगे बढ़ने और ऊपर उठने की सदा प्रेरणा प्रदान कर-कर के हमारा पूर्णतया कल्याण कर हमारी झोली अपने परम प्रसाद-अपने परम आनन्द से भी भर देता है। आश्चर्य यह है कि ये सब सखा-मित्र-दोस्त तो कभी समय आने पर उदास हताश और निराश होकर कभी हम से किनारे होकर



भी बैठ जाते हैं पर वह तो ऐसा सखा है, ऐसा मित्र है, ऐसा दोस्त है कि न कभी हम से उदास होता है, न कभी हताश होता है, न ही कभी निराश होता है। वह तो सदा सब प्रकार से आशावान् होकर बड़े धैर्य से हमारा सुधार करता हुआ हमें सदा स्वस्ति पथ पर-कल्याणमय पथ पर अग्रसर करता हुआ एक दिन हमारा पूर्णरूपेण कल्याण ही कर देता है फिर विचित्रता यह है कि वह यह सब कुछ अपनी अनहेतुकी कृपा से ही करता रहता है, सर्वथा निःस्वार्थ और निष्कलङ्क भाव से ही करता रहता है। ऐसे अपने अनादि काल से चले आ रहे अपने सर्वथा सच्चे - सुच्चे अद्वितीय सखा को जब हम समझने लगते हैं, जब हम जानने-पहचानने लगते हैं तथा उसकी सब प्रकार की हितैषिणी वेद वाणी एवं सत्प्रेरणा के अनुसार जब हम चलने लगते हैं तो फिर निःसन्देह हमारा सब प्रकार से कल्याण हो जाता है।



त्रयोदश रश्मि

वयमिन्द्रं स्तवाम । ऋ० ८.५१.१२ ॥

अन्वयार्थं :—(वयम् इन्द्रं स्तवाम) हम इन्द्र की स्तुति करें।

व्याख्या :—हम इन्द्र की स्तुति करें, हम परमेश्वर का स्तवन करें, हम जगत् सम्राट् प्रभु का भजन करें।

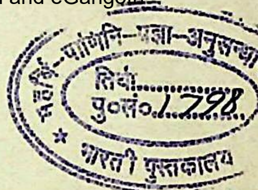
यहां इन्द्र से अभिप्राय यह इन्द्र जीवात्मा नहीं है, और न ही यहां इस इन्द्र से अभिप्राय यह लौकिक राजा है वरन् यहां इस इन्द्र से उसकी ओर संकेत है जो परम आत्मा है, जो इन राजाओं का राजा है, जो इन सम्राटों का सम्राट है, अर्थात् जो इस सकल जगत् का सम्राट् है, जो सारे जगत् को अपने अनुशासन में रखता है, जो सारे जगत् के प्रति अपना एक विधान बनाता है, जो सारे जगत् के प्रति अपनी एक उत्कृष्ट न्याय व्यवस्था का पालन करता है। जो केवल इस सांसारिक धन-वैभव का ही स्वामी नहीं वरन् पारमार्थिक ऐश्वर्य का भी स्वामी है जो सर्वान्तर्यामी है, सब को नियम में रखने वाला हो, जो आत्मा ही नहीं वरन् परम आत्मा है, जो राजा भी है तो ऐसा राजा है कि जिसका राज्य इस प्रजा के कर-टैक्स के आश्रय पर नहीं चलता वरन् उसके अपने ही ऐश्वर्य के आधार पर ही चलता है, जो स्वयं सब प्रकार के स्वार्थों से—भोग विलासों से परे है, जो सतत् कर्मा है, जो राग द्वेष से ऊपर है, जो अपने पराये के भेद से ऊपर है, प्राणियों को

राजा तो बनाता है पर स्वयं अन्यों के आश्रय पर राजा नहीं बनता है. जो ज्ञान में सबसे बढ़कर है, शक्ति में सब से बढ़ कर है, जो वैभव में सब से बढ़कर है, जो सूझ बूझ में सब से बढ़कर है, जो पवित्रता में सर्वोपरि है ऐसे उस प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु की हम श्रद्धा भक्ति से स्तुति करें, स्तवन करें, भजन करें, पूजन करें ताकि फिर हम उस के ही हो जाएं अथवा वह हमारे ही हो जाएं। अर्थात् हम उस सर्वोत्कृष्ट प्रजापति परमेश्वर की ही प्रजा हो जाएं और वह हमारा प्रजापति हो जाएं। हम उसी के ही अनुशासन में निरन्तर रहते हुये जहां उससे यह लौकिक सुख-सौभाग्य पाएं वहां उससे दिव्य प्यार और आशीर्वाद भी पाएं।

१—प्रजायतेः प्रजा अभूय । वेद ॥

"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" द्वारा श्रद्धापूर्वक दान देने वाले महानुभावों के सहयोग से लेखक की प्रकाशित पुस्तकें—

स०	नाम पुस्तक	प्र० सं०	द्वि० स०	तृ० स०
१	प्रार्थना सुमन भाग १	११००	४०००	
२	कौन चैन की नींद नहीं सो सकते और उसका उपाय	२०००	२०००	४०००
३	वेद सुधा, भाग १	२०००	४०००	
४	विदुर जी की दृष्टि में बुद्धिमान् कौन ? भाग-१	२०००	४०००	
५	महान् विदुर के महान् उपदेश भाग-१	२०००		
६	प्रार्थना प्रदीप, भाग-१	२०००		
७	प्रार्थना प्रसून, भाग-१	२०००		
८	प्रार्थना सुमन, भाग-२	२०००		
९	वेद सुधा, भाग-२	२०००	४०००	
१०	विनय सुमन, भाग-१	२०००	४०००	
११	विनय सुमन, भाग-२	२०००		
१२	अनन्त की ओर	२०००	४०००	
१३	वैदिक पुष्पाञ्जलि, भाग-१	२०००		
१४	वैदिक पुष्पाञ्जलि, भाग-२	२०००		
१५	वैदिक गृहस्थाश्रम (सुखी गृहस्थ)	३०००		
१६	प्रभात वन्दन	३०००		
१७	वेदोपदेश, भाग-१	४०००		
१८	वैदिक रश्मियां भाग-१	४०००		
१९	शयन विनय	४०००		


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
सि०
पु०सं० 1798
भारती पुस्तकालय



मुद्रक—शक्ति प्रेस, (नहर पुल) कनखल